

## अद्वैतवाद में आचार-दर्शन की सम्भावना : जैनदृष्टि से समीक्षा

आचार्य शंकर सत् को अद्वय, अविकारी और आध्यात्मिक मानते हैं। सत् के स्वरूप-सम्बन्धी इस अद्वैतवादी धारणा में आचार-दर्शन की क्या सम्भावना हो सकती है, यह विचारणीय है। यदि सत् भेदातीत है, यदि ब्रह्म अद्वय है, तो उसमें वैयक्तिक साधक की सत्ता ही नहीं बचती है। अद्वैतवाद में बन्धन और मुक्ति के प्रत्यय भी मात्र काल्पनिक रह जाते हैं। यदि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता ही नहीं है तो फिर न तो कोई बन्धन में आने वाला ही शेष रहता है और न कोई मुक्त होने वाला ही। यदि यह कहा जाय कि जीवात्मा बन्धन में आता है और वही अपनी ज्ञानात्मक साधना के द्वारा मुक्त होता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जीवात्मा भी तो ब्रह्म से अभिन्न ही है। इसका अर्थ तो यह होगा कि ब्रह्म ही बन्धन में आता है और ब्रह्म ही मुक्त होता है। किन्तु यह एक उपहासास्पद धारणा ही होगी। यदि यह कहा जाय कि जीव विवर्त है तो फिर जीव के सम्बन्ध में होने वाले बन्धन और मुक्ति भी विवर्त होंगे और बन्धन और मुक्ति के विवर्त होने पर सारी नैतिकता भी विवर्त होगी। ऐसी विवर्त-मूलक नैतिकता का क्या मूल्य होगा यह स्वयं अद्वैतवादियों के लिये भी विचारणीय है।

दूसरे, यदि उनके सिद्धान्त में विकार या परिवर्तन के लिये कोई स्थान नहीं है, यदि सत्ता विकार और परिवर्तन से रहित है, तो भी नैतिक पतन या विकास अथवा बन्धन और मुक्ति की धारणायें टिक नहीं पाती हैं। नैतिक पतन एवं विकास को परिवर्तन के अभाव में समझ पाना कठिन होगा।

तीसरे, यदि परम सत्ता मात्र आध्यात्मिक है तो फिर बन्धन कैसे होता है? बन्धन का कारण क्या है? वह स्वभाव तो नहीं है और बिना किसी अन्य कारण के विभाव की कल्पना असंगत है। दूसरे तत्त्व की सत्ता माने बिना विभाव या बन्धन की समीचीन व्याख्या दे पाना कठिन है।

स्वयं अद्वैतवाद को भी अनेकता और बन्धन के कारण की व्याख्या के लिए माया के प्रत्यय को स्वीकार करना पड़ा है। परमतत्त्व के समानान्तर अनादि और अनिर्वचनीय माया की धारणा कठोर एकत्ववादी निष्ठा के प्रतिकूल है। बन्धन की कारणभूत माया असत् तो नहीं मानी जा सकती क्योंकि जो असत् है वह कारण नहीं हो सकता। पुनः, असत् या मिथ्या कारण का कार्य भी असत् होगा और ऐसी स्थिति में बन्धन भी असत् या मिथ्या होगा। स्वयं आचार्य शंकर ने भी माया को असत् नहीं माना है।<sup>१</sup> किन्तु यदि उसे असत् नहीं माना जायेगा तो सत् मानना होगा और माया को सत् मानने पर स्वयं अद्वैतवाद खण्डित हो जायेगा। पुनः, यदि माया अनिर्वचनीय है तो उसे असत् या अभाव रूप भी नहीं माना जा सकता है। यदि वह भावात्मक सत्ता है तो फिर ब्रह्म के समक्ष एक दूसरी सत्ता खड़ी हो जायेगी और अद्वैतवाद टिक नहीं पायेगा। यदि माया को स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानकर ब्रह्म के आश्रित माना

जायेगा तो आश्रयानुपपत्ति का आक्षेप लागू होगा। शंकर का अद्वैतवाद चाहे तार्किक दृष्टि से सबल हो किन्तु नैतिकता की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करने में तो निर्बल पड़ ही जाता है।

अनेक पाश्चात्य चिन्तकों ने भी इस अद्वैतवादी मत् की धारणा में आचार-दर्शन की सम्भावना के प्रति शंका प्रकट की है। मैक्समूलर ने शंकर के वेदान्त को कठोर एकत्ववाद की संज्ञा देकर उसमें आचार-दर्शन की सम्भावना को अस्वीकार किया है। डा० अर्कहार्ट ने अपने शोध-ग्रन्थ 'सर्वेश्वरवाद और जीवन-मूल्य' में लिखा है कि 'ब्रह्म निर्गुण और भेदातीत है अतः शुभाशुभ-भेद से परे है और शुभाशुभ-भेद का निराकरण आचारशास्त्र के आधार को ही उन्मूलित कर देता है। वेदान्त में व्यक्तित्व को भी मिथ्या माना गया है। शुभाशुभ भेद का निराकरण नैतिक निर्णय को असम्भव बना देता है और उसके साथ ही व्यक्ति की वास्तविक सत्ता का निषेध नैतिक निर्णय को अनावश्यक भी बना देता है।<sup>२</sup> कठोर अद्वैतवाद के दर्शन की नैतिक अक्षमता का चित्रण करते हुए जैनाचार्य समन्तभद्र आप्त मीमांसा में लिखते हैं कि एकान्त अद्वैतवाद की धारणा में शुभाशुभ आदि कर्म-भेद, सुख-दुःखादि फल-भेद, स्वर्ग-नर्क आदि लोक-भेद सम्यक्ज्ञान-मिथ्याज्ञान आदि ज्ञान-भेद तथा बन्धन और मुक्ति का भेद नहीं रहता है।<sup>३</sup> अतः ऐसा सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से सक्षम नहीं हो सकता है। नैतिकता के लिए तो द्वैत, अनेकता आवश्यक है। आदरणीय डा० नथमल टाटिया लिखते हैं कि 'एकान्त अद्वैतवादी धारणा को स्वीकार करने का अर्थ यह होगा कि समाज, वातावरण, परलोक तथा नैतिक और धार्मिक नियमों की पूर्ण समाप्ति। लेकिन ऐसा दर्शन, जो समस्त सामाजिक, नैतिक और धार्मिक जीवन एवं तत्सम्बन्धी संस्थाओं को परिसमाप्त कर देता हो, मानव-जाति के लिए उपादेय नहीं कहा जा सकता'<sup>४</sup>

अद्वैतवाद में आचार-दर्शन की सम्भावना सिद्ध करने के लिये डा० रामानन्द तिवारी ने भी अपने शोध प्रबन्ध 'शंकराचार्य का आचार-दर्शन' में एकत्ववादी, सर्वेश्वरवादी एवं मायावादी विचार-प्रणाली का निरसन कर शंकर-दर्शन में भी जीव एवं जगत् की सत्ता को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं 'जीवन और जगत् दोनो अत्यन्त विविक्त सत्तायें हैं, चाहे वे ब्रह्म से पृथक् कल्पनीय न हों। मायावाद का प्रसिद्ध सिद्धान्त जगत् की सत्ता के प्रसंग में नितान्त असंगत है। जीवन की सत्ता वेदान्त का मूलाधार है। मोक्षावस्था में जीवतत्त्व और व्यक्तित्व के अक्षुण्ण रहने की सम्भावनाओं के साथ वेदान्त में आचार-दर्शन की सम्भावना भी अवगम्य हो जाती है।'<sup>५</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार-दर्शन की सम्भावना के लिये सत्-सम्बन्धी कठोर अद्वैतवाद एवं अविकार्यता के सिद्धान्त छोड़ना आवश्यक सा हो जाता है। डॉ० रामानन्द ने आचार्य शंकर

के दर्शन में आचार-दर्शन की सम्भावना को सिद्ध करने के प्रयास में उसे जिस स्तर पर लाकर खड़ा किया है, वहाँ शंकर सत् की कठोर अद्वैतवादी धारणा से दूर हटकर अभेदाश्रितभेद की धारणा पर आ जाते हैं और शंकर एवं रामानुज में कोई विशेष दूरी नहीं रह जाती है। स्वयं डॉ० रामानन्द भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि रामानुज और शंकर में वह दूरी नहीं है जैसी परवर्ती शंकरानुयायियों ने बताया है। अस्तु।

अद्वैतवाद में आचार-दर्शन की सम्भावना तो तब समाप्त हो जाती है जब हर स्तर पर ही अभेद माना जाये। लेकिन अद्वैत के प्रस्तोता आचार्य शंकर भी हर स्तर पर अभेद की धारणा को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि भेद असत् है लेकिन भेद या अनेकता के असत् होने का अर्थ यह नहीं है कि वह प्रतीति का विषय नहीं है यद्यपि यह समस्या है कि असत् अनेकता कैसे प्रतीति का विषय बन जाती है? लेकिन यहाँ इस चर्चा की गहराई में जाना इष्ट नहीं है। अद्वैतवाद यह मान कर चलता है कि प्रतीति की दृष्टि से न केवल वस्तुगत अनेकता है वरन् व्यक्तिगत अनेकता भी है, और प्रतीति के क्षेत्र में इस भेद तथा अनेकता के कारण बन्धन और मुक्ति एवं नैतिकता और धर्म की सम्भावनाएँ भी हैं। इस प्रकार अद्वैतवादी भी केवल पारमार्थिक स्तर पर ही अभेद को मानते हैं। व्यावहारिक स्तर पर तो उन्हें भी भेद स्वीकार है। व्यावहारिक स्तर पर जब भेद स्वीकार कर लिया जाता है तो आचार-दर्शन की सम्भावना अवगम्य हो जाती है। मेरी अपनी दृष्टि में शंकर जब तक पारमार्थिक स्तर पर अभेद और अद्वयता और व्यावहारिक स्तर पर भेद और अनेकता को स्वीकार करते हैं तब तक वे कोई गलती नहीं करते। स्वयं जैन एवं बौद्ध विचारक भी पारमार्थिक स्तर पर अभेद एवं व्यावहारिक स्तर पर भेद की संकल्पना को स्वीकार करते हैं।

### अद्वैतवादी दर्शन की मूलभूत कमजोरी :

इस आधार पर अद्वैतवाद की आलोचना करना उचित नहीं होगा कि अद्वैतवाद में नैतिक दर्शन की अवगम्यता व्यावहारिक स्तर तक होती है। स्वयं जैन एवं बौद्ध विचारणाओं में भी नैतिकता की अवधारणा व्यावहारिक स्तर पर ही सम्भव है।

पारमार्थिक दृष्टि से अभेद को ही सत्य और व्यवहार के भेद को मिथ्या कहकर भी शंकर कोई गलती नहीं करते हैं। परमार्थ की दृष्टि से व्यवहार मिथ्या है यह ठीक है, लेकिन उससे आगे बढ़कर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि व्यवहार की अपेक्षा से अभेद भी मिथ्या होगा, क्योंकि वस्तु-तत्त्व स्वापेक्षा से सत्य होता है किन्तु परापेक्षा से मिथ्या होता है। जिस प्रकार परमार्थ की अपेक्षा से अभेद सत्य है और भेद मिथ्या है उसी प्रकार व्यवहार की अपेक्षा से भेद सत्य और अभेद मिथ्या होंगे। शंकर आधी दूर आकर रुक जाते हैं। वे आगे बढ़कर व्यवहार की अपेक्षा से अभेद को मिथ्या कहने का साहस क्यों नहीं करते? जब परमार्थ की अपेक्षा व्यवहार को असत् कहा जाता है तो हमें यह ध्यान में रखना होगा कि यहाँ उसके असत् का प्रतिपादन परमार्थ

की अपेक्षा विशेष से ही है, एक अपेक्षा के द्वारा दूसरी अपेक्षाओं का समग्र निषेध तो कभी भी नहीं हो सकता। किसी तीसरी अपेक्षा से दोनों ही यथार्थ हो सकते हैं। यदि हम कहें कि राम दशरथ की अपेक्षा से पुत्र है और पिता नहीं है, तो इसमें उनके पितृत्व का समग्र निषेध नहीं होता है। लव और कुश की अपेक्षा से वे पिता हो सकते हैं। अद्वैतवादी गलती यह करते हैं कि वे परमार्थ की अपेक्षा से व्यवहार का पूर्ण निषेध मान लेते हैं। जिस प्रकार दशरथ की अपेक्षा से राम का पितृत्व मिथ्या है और पुत्रत्व सत्य है और लव-कुश की अपेक्षा से राम का पुत्रत्व मिथ्या है और पितृत्व सत्य है लेकिन स्वयं राम की अपेक्षा से न पितृत्व मिथ्या है न पुत्रत्व मिथ्या है वरन् दोनों ही यथार्थ हैं, उसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से भेद मिथ्या है और अभेद सत्य है, व्यावहारिक दृष्टि से भेद सत्य और अभेद मिथ्या है लेकिन परमतत्त्व की अपेक्षा से तो न अभेद मिथ्या है और न भेद मिथ्या है अपितु दोनों ही सत्य हैं। कठोर अद्वैतवादी विचारक यह भूल जाते हैं कि भेद और अभेद तो परमतत्त्व के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं, वे स्व अपेक्षा से सत्य और पर अपेक्षा से मिथ्या होते हुए भी परम तत्त्व की अपेक्षा से दोनों ही सत्य हो सकती हैं। अद्वैतवादी दर्शन का मानदण्ड लेकर नापने वाले मनीषी डा० राधाकृष्णन् ने अनेकान्तवादी यथार्थवाद को बीच मार्ग में पड़ाव जैसा कहा है।<sup>१</sup> जबकि वास्तविकता यह है कि अद्वैतवादी दर्शन केवल पारमार्थिक या तत्त्व दृष्टि से भेद का निषेध कर स्वयं बीच मार्ग में पड़ाव डाल देता है। वह आगे बढ़कर यह क्यों नहीं कहता है कि व्यावहारिक दृष्टि से अभेद भी मिथ्या है। इससे भी आगे बढ़कर वह यह क्यों नहीं स्वीकार करता है कि परम तत्त्व की अपेक्षा से भेद और अभेद दोनों ही सत्य हैं। पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टियाँ सत् के सम्बन्ध में क्रमशः अभेदगामी और भेदगामी दृष्टियाँ हैं, उनमें से कोई भी असत्य नहीं है, दोनों ही अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य हैं। व्यावहारिक भेद भी उतना ही यथार्थ है जितना पारमार्थिक अभेद। दोनों में कोई तुलना नहीं हो सकती है, दो भिन्न-भिन्न स्थितियों से खींचे गये वस्तु के दो चित्रों में कोई भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। सत् का भेदवादी दृष्टिकोण भी उतना ही यथार्थ है जितना सत् का अभेदवादी दृष्टिकोण। क्योंकि दोनों सत्ता के ही दो पक्ष हैं। यदि अद्वैतवाद पारमार्थिक और व्यावहारिक ऐसी दो सत्ताएँ खड़ी करता है तो स्वयं अपने सिद्धान्त से पीछे हट जाता है यदि परमार्थ और व्यवहार दोनों को ही वास्तविक मानता है तो उसका अद्वैत खण्डित हो जाता है। और यदि व्यवहार को मिथ्या कहता है तो आनुभविक जगत् की यथार्थता और आचार-दर्शन की सम्भावना निरस्त हो जाती है। कुमारिल ने भी शंकर के दर्शन में यही दोष दिखाया है। वस्तुतः परमार्थ और व्यवहार सत् के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं, दोनों सत्ता के दो पहलू हैं और दोनों ही यथार्थ हैं।

हमारा अद्वैतवाद से न तो इसलिए कोई विवाद है कि वह पारमार्थिक दृष्टि से अभेद को मानता है, क्योंकि तत्त्व या ब्रह्म दृष्टि से अभेद को तो सभी ने स्वीकार किया है। और न इसलिए कोई विरोध

है कि वह व्यावहारिक स्तर पर नैतिकता की धारणा को स्वीकार करता है, क्योंकि यह दृष्टिकोण जैन, बौद्ध आदि लगभग सभी प्रमुख दर्शनों को भी मान्य है। हमारा अगर अद्वैतवाद से कोई विरोध है तो वह मात्र यही कि अद्वैत व्यवहार को क्यों मिथ्या मानता है? अद्वैत के इस दृष्टिकोण के प्रति हमारा आक्षेप यह है कि असत् व्यवहार से सत् परमार्थ को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? असत् नैतिकता सत् परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं करा सकती। असत् व्यावहारिक नैतिकता और सत् पारमार्थिक परम तत्त्व में कोई सम्बन्ध ही नहीं बन पाता, क्योंकि उनमें एक असत् और दूसरा सत् है। लेकिन जब हम व्यवहार और परमार्थ को सत् सम्बन्धी दो दृष्टियाँ मानते हैं तो वे परस्पर सम्बन्धित हो जाती हैं लेकिन जब उनमें से परमार्थ को सत्ता और व्यवहार को दृष्टि मानते हैं तो वे परस्पर विरोधी एवं असम्बन्धित हो जाती हैं। सत् से ही सत् पाया जा सकता है असत् से सत् नहीं पाया जा सकता। लेकिन यदि विचारपूर्वक देखें तो अद्वैतवाद भी व्यवहार को असत् कहने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि उसकी व्यावहारिक सत्ता की धारणा माया पर अवलम्बित है और यदि माया असत् नहीं है तो

व्यावहारिक स्तर पर होने वाले भेद एवं परिवर्तन भी असत् नहीं कहे जा सकते। भेद भी उतना ही सत्य है, जितना अभेद और ऐसी स्थिति में शंकर के अद्वैतवाद में आचार-दर्शन की सम्भावना स्पष्ट हो जाती है।

#### संदर्भ

१. विवेकचूडामणि, अनु० मुनिलाल, गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २००१ माया-निरूपण
२. रामानन्द तिवारी, शंकराचार्य का आचार दर्शन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००६, पृ० १६-१७
३. आप्तमीमांसा, २५
४. Studies in Jain Philosophy, P.V. Research Institute, Varanasi, 1951, P. 178.
५. शंकराचार्य का आचार-दर्शन, पृ० ६६-६७
६. डा० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्स, देहली १९६६, खण्ड १, पृष्ठ ३११

## महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के जैनधर्म सम्बन्धी मन्तव्यों की समालोचना

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन भारतीय वाङ्मय के विश्रुत विद्वान् थे। हिन्दी साहित्य की विविध-विधाओं में भारतीय वाङ्मय को उनका अवदान अविस्मरणीय है। दर्शन के क्षेत्र में राहुलजी ने जितना अधिक पाश्चात्य दर्शनों, विशेष रूप से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एवं बौद्धदर्शन के सम्बन्ध में लिखा, उसकी अपेक्षा जैनदर्शन के क्षेत्र में उनका लेखन बहुत ही अल्प है। उनके ग्रन्थ 'दर्शन-दिग्दर्शन' में वर्धमान महावीर और अनेकान्तवादी जैन दर्शन के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसे अथवा बौद्धग्रन्थों में आने वाली जैनधर्म-दर्शन सम्बन्धी समीक्षाओं के हिन्दी अनुवाद को छोड़कर उन्होंने जैनदर्शन के क्षेत्र में कुछ लिखा हो, ऐसा मुझे ज्ञात नहीं। अतः यहाँ जैनदर्शन के क्षेत्र में उनके विचारों की समीक्षा इन्हीं ग्रन्थांशों के आधार पर की गई है।

उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दर्शन-दिग्दर्शन' में जैन परम्परा का उल्लेख विशेषरूप से दो स्थलों पर किया है— एक तो बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों के सन्दर्भ में और दूसरा जैनदर्शन के स्वतन्त्र प्रतिपादन के क्षेत्र में। बौद्धग्रन्थों में वर्णित छः तीर्थंकरों में वर्द्धमान महावीर का उल्लेख उन्होंने सर्वज्ञतावादी के रूप में किया है, किन्तु उन्होंने यह समग्र विवरण बौद्धग्रन्थों के आधार पर ही प्रस्तुत किया है। बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों और विशेष रूप से वर्द्धमान महावीर के सन्दर्भ में यदि वे बौद्धेतर स्रोतों को भी आधार बनाते तो उनके साथ अधिक न्याय कर सकते थे। क्योंकि बौद्धग्रन्थों में महावीर का जो चित्रण निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (नातपुत्र) के रूप में है उसमें सत्यांश तो है,

किन्तु वह एक आलोचक दृष्टि से ही लिखा गया है, अतः उनके व्यक्तित्व को सम्यक् रूप में प्रस्तुत नहीं करता है। महावीर के सम्बन्ध में दीघनिकाय के आधार पर वे लिखते हैं—

'महावीर की मुख्य शिक्षा को बौद्धत्रिपिटक में इस प्रकार उद्धृत किया गया है— निर्ग्रन्थ (जैन साधु) चार संवरों (संयमों) से संवृत्त रहता है। १. निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का वारण करता है, (जिससे जल के जीव न मारे जावें), २. सभी पापों का वारण करता है, ३. सभी पापों के वारण करने से वह पाप रहित (धूतपाप) होता है, ४. सभी पापों के वारण में लगा रहता है।... चूँकि निर्ग्रन्थ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत्त रहता है इसलिए वह— गतात्मा (अनिच्छुक), यतात्मा (संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।' (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. ४९५)

इस विवरण में महावीर की शिक्षाओं को चातुर्याम संवर के रूप में प्रस्तुत करते हुए, उन्होंने जिस चातुर्याम संवर का उल्लेख किया है, वस्तुतः वह चातुर्याम संवर का मार्ग महावीर का नहीं, पार्श्व का है। परवर्तीकाल में जब पार्श्व की निर्ग्रन्थ परम्परा महावीर की परम्परा में सम्मिलित हो गयी, तो त्रिपिटक संकलनकर्ताओं ने दोनों धाराओं को एक मानकर पार्श्व के विचारों को भी महावीर के नाम से ही प्रस्तुत किया। त्रिपिटक के संकलन कर्ताओं की इस भ्रान्ति का अनुसरण राहुलजी ने भी किया और अपनी ओर से टिप्पणी के रूप में भी इस भूल के परिमार्जन का कोई प्रयत्न नहीं